
इकाई 14 वर्णों और जातियों का प्रसार और सुदृढीकरण

इकाई की रूपरेखा

- 14.0 प्रस्तावना
- 14.1 संदर्भ
- 14.2 सुदृढीकरण का ढाँचा
- 14.3 प्रसार का मुद्दा
- 14.4 सारांश
- 14.5 शब्दावली
- 14.6 अभ्यास

14.0 प्रस्तावना

इस इकाई में हम वर्ण और जातियों की वृद्धि के मुद्दे और व्यवस्थित सामाजिक संदर्भ में उनके दृढीकरण (Consolidation) के सम्बन्ध में चर्चा करेंगे। इसके प्रथम भाग में हम शहरीकरण (Urbanisation) बनाम सामन्तवाद (Feudalism) पर बहस से परिचय कराएँगे। इसके अगले भागों में उन मुद्दों पर चर्चा करना है जो उस सामाजिक संदर्भ से जुड़े हैं जिसमें वृद्धि और सुदृढीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई। हम अंतिम भाग में सामन्तवाद से संबंधित तर्कों का सारांश प्रस्तुत करेंगे जिसमें कास्ट, जातियों और सुदृढीकरण के मुद्दे पर चर्चा शामिल होगी।

“कास्ट” (Caste) शब्द पुर्तगाली भाषा कास्टा (Casta) से आया है जिसमें वर्ण को तो नहीं माना जाता लेकिन प्रतिष्ठा समूहों में रैंक (पद) या कोड बनाए जाते हैं। वर्ण-व्यवस्था की व्याख्या के लिए हम किसी एक स्वीकार्य परिभाषा का समर्थन नहीं कर सकते। वर्ण व्यवस्था को बहुआयामी पदानुक्रम के रूप में देखा जा सकता है जिसमें समाज के सभी सदस्य शामिल होते हैं और प्रत्येक व्यक्ति चार वर्गों या अछूतों सहित पाँच वर्गों (वर्ण या रंग) में नामित किया जाता है। चार वर्ण विभाजन ब्राह्मण (पुजारी और विद्वान), क्षत्रीय (शासक और योद्धा), वैश्य (व्यापारी और व्यवसायी) तथा शूद्र (किसान, कलाकार/शिल्पकार तथा श्रमिक) हैं। प्रत्येक व्यवस्था में प्रत्येक जाति सिद्धान्ततः सजातीय वैवाहिक समूह जिसकी सदस्यता वंशानुगत और स्थाई होती है। जाति या वर्ण स्थिति बदलने का एक मात्र तरीका संस्कृतिकरण (Sanskritization) से गुजरना होता है। संस्कृतिकरण दूसरे क्षेत्र/स्थान पर प्रवास के द्वारा तथा अपनी जातीय प्रतिष्ठा बदलने के द्वारा और/या जाति से बाहर विवाह करने के द्वारा अपनाया जा सकता है। इससे जीवन साथी की जाति के आधार पर जाति का पदानुक्रम उच्च या निम्न हो सकता है। ‘जाति’ शब्द का अर्थ सामाजिक सम्बन्धों में धारित स्थिति या पद या प्रतिष्ठायुक्त मानव समूह है।

जाति/वर्ण संरचना के मूल में धार्मिक प्रतिष्ठा, शुद्धता और मिश्रण (वर्णशंकर) की संकल्पना से संबंधित मूल्यों का प्रतिष्ठा क्रम है। इसके अलावा जाति किसी व्यक्ति के व्यवहार, दायित्व एवं अपेक्षाओं को निर्धारित करती है। किसी जातीय समाज के सभी सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, कानूनी और राजनीतिक कार्य उन स्वीकृतियों द्वारा निर्धारित होते हैं जो जमीन की उपलब्धता, राजनीतिक अधिकार की स्थिति और मानव श्रम के नियंत्रण का निर्णय और सीमा स्थापित करती है। ऐसी संकीर्ण व्यवस्था में धन, राजनीतिक शक्ति, उच्च पद और विशेषाधिकार प्रायः एक साथ पाए जाते हैं तथा वंशानुगत व्यवसाय इसका एक सामान्य लक्षण हैं। फिर भी जाति का क्रियात्मक महत्व किसी समय विशेष में क्षेत्रीय या स्थानीय संदर्भ के दृष्टिकोणों से ही होता है। वंशानुगत जाति और सामाजिक आर्थिक वर्ग के बीच माना गया पारस्परिक सम्बन्ध हमेशा एक सा नहीं रहता।

जाति शब्द बहु-सांस्कृतिक दक्षिण एशियाई समाज में विभिन्न समूहों की विशिष्ट पहचान के रूप में प्रचलित हुआ है। वास्तव में यह शब्द लोगों के ऐसे समूह या किसी प्रकार, श्रेणी का अर्थ प्रतिपादित कर सकता है जिनकी विशेषताएँ समान हैं, जो परस्पर विवाह करना चाहते हैं, एक साथ रहते हैं, एक जैसी परम्पराओं का पालन करते हैं, एक ही तरह पूजा करते हैं, जिनकी वेशभूषा एक जैसी होती है, जिनका भोजन एक जैसा होता है, जिनकी भाषा एक जैसी है और समूह के नेता उनका प्रतिनिधित्व करते हैं। जाति/वर्ण शब्द की व्याख्या के बाद आइए अब उस प्रारम्भिक मध्यकाल की प्रादेशिक संदर्भ में रूपरेखा तैयार करने के लिए उस भू-दृश्य की ओर चले जिसमें जातियों का विस्तार और दृढीकरण हुआ।

14.1 संदर्भ

प्रारम्भिक मध्यकालीन सामाजिक वातावरण कई शताब्दियों में दो दीर्घकालीन आर्थिक प्रवृत्तियों के संदर्भ में विकसित हुए, स्थिर या एक ही स्थान पर स्थित किसानों ने विशेष श्रमिकों और प्रौद्योगिकी की सहायता से उत्पादकता में वृद्धि की, तथा दूसरी थी गतिशील समूहों ने दक्षिण एशिया से मध्य एशिया, चीन और भूमध्यरेखा में भूमि और जल मार्गों से परिवहन तथा संप्रेषण का विस्तार किया। हम देख सकते हैं कि सातवीं शताब्दी तक मानव गतिशीलता के मुख्य मार्ग यूरेशिया से परे दक्षिण एशिया में क्षेत्रीय शाखाओं और स्थानीय शाखाओं से जुड़े हुए थे जो कृषि उत्पादन के व्यापक क्षेत्र में फैले हुए थे। प्रथम सहस्राब्दी में ज्यादातर नए राजवंश ऐसे स्थानों में विकसित हुए जहाँ पर लम्बे व्यापारिक मार्ग उपजाऊ घाटियों और डेल्टाओं से होकर गुजरते थे। उदाहरण के लिए उन्होंने कश्मीर में श्रीनगर को तथा नेपाल में काठमांडू घाटी को घेर रखा था। पंजाब में उन्होंने पादगिरी (Foothills) को चिह्नित कर रखा था। वे बड़ी नदियों जैसे गंगा, नर्मदा, ताप्ती, साबरमती, महानदी, कृष्णा, गोदावरी, पेनार, कावेरी, वैयागी तथा ताम्र पर्णी के साथ-साथ कई गुणा बढ़ गए। भारतीय प्रायद्वीप में नदियों के समुद्र से मिलने वाले स्थानों पर वे सर्वाधिक फले-फूले। उत्तरी-श्रीलंका के मैदानों में वे उन सिंचाई के जल स्रोतों के आस-पास बढ़े जहाँ द्वीप के मध्य में पर्वतों से पानी नीचे आता था। कृषक समाज व्यापक क्षेत्र में नदी घाटी में फैला वहीं ऊपर की भूमि पर अभी भी मवेशी पालकों व अन्य लोगों का नियंत्रण था।

नया मध्यकालीन समाज तब अस्तित्व में आया जब किसानों का खानाबदोशों शिकारियों और जंगलवासियों द्वारा अधिकृत क्षेत्रों के साथ संघर्ष हुआ। राजा, ब्राह्मण और स्थानीय विशिष्ट वर्ग धर्म के नैतिक अधिकार की रक्षा और विस्तार के लिए संघर्ष का नेतृत्व करते थे। अपने अधिकार क्षेत्र में राजा के लिए शांति और समृद्धि धर्मपरायणता के निश्चित संकेत थे, जैसा कि रामायण में राम राज्य था। धर्म की रक्षा करने से शाही परिवारों एवं स्थानीय विशिष्ट वर्गों को सम्मान और धार्मिक योग्यता का पद मिलने लगा जिससे उन्होंने श्रमिकों को अनुशासित किया, आर्थिक कार्यों को समन्वित किया तथा भू-सम्पत्ति पर अपना अधिकार सुरक्षित कर लिया। धर्म के मध्यकालीन ग्रंथ इस बात पर जोर नहीं देते हैं कि राजा क्षत्रिय ही होगा और इस प्रकार अधिकतर उपमहाद्वीप में विकसित मध्यकालीन जातियों में सभी चार वर्ण मौजूद नहीं थे। मध्यकालीन ग्रंथों और शास्त्रों में यह बात महत्वपूर्ण है कि राजा का नैतिक कर्तव्य - राजधर्म - स्थानीय परम्परा की रक्षा करना है। राजा द्वारा खेत का अनुदान मंदिरों को देना और ब्राह्मण द्वारा धर्म के लिए राजवंश का समर्थन करना आवश्यक था, परंतु उन्होंने ज़मीन के स्थानीय अधिकारों की भी रक्षा की। धर्म की स्थापना के लिए राजाओं, ब्राह्मणों और स्थानीय विशिष्ट वर्गों को मिलकर कार्य करना पड़ता था। ऐसा लगता है कि सामाजिक, जीवन की एक विशेषता के रूप में जाति पदों का प्रसार ऊर्ध्व गतिशील समूहों के धार्मिक गठबंधन के द्वारा प्रेरित हुआ था। नए राजवंशीय क्षेत्रों में निर्मित पद व्यवस्थाएँ काफी सार्थक थी। सामाजिक अंतर, प्रतिष्ठा, पद और अधिकार की इन व्यवस्थाओं को बनाने में राजवंशीय परम्परा के नेता और ब्राह्मण मुख्यकर्ता थे। नए समाजों में ऐसे नए सामाजिक समूहों और परम्पराओं को शामिल किया गया जो संस्कृत साहित्य में वर्णित व्यवहार, पहचान, सौन्दर्यशास्त्र और संरक्षण के आदर्शों के अनुरूप बने थे। जो ब्राह्मणों द्वारा स्थानीय स्तर पर अनुमोदित और व्याख्यायित किए जाते थे। उन्नति करने वाले परिवार ब्राह्मण वंशों और दरबारी कवियों की सेवाएं लेते थे, ब्राह्मणों को संरक्षण देते थे, और मंदिरों, भिखारियों और तीर्थ यात्रियों के लिए निर्मित धर्म-भोजन कराने के स्थानों को दान देते थे, उत्सवों का आयोजन करते थे, संतों को भोजन कराते थे और पुजारियों, राजाओं और किसानों को धर्म समाज में लाने वाली गतिविधियों में भाग लेते थे। लोग समाज में ब्राह्मणों का समर्थन और अनुकरण करके चलते थे।

यह सब घटित इसलिए हो रहा था कि किसानों ने भूमि और श्रम पर अपने नियंत्रण को काफी बढ़ा लिया था और किसानों, खानाबदोशों, मवेशी पालकों, शिकारियों और जंगल की जनजातियों की धीरे-धीरे नई सामाजिक पहचान बन रही थी। कई पीढ़ियों के बाद लोग उच्च जाति के ज़मींदार, राजा, धर्म संरक्षक, क्षत्रीय, वैश्य, श्रेष्ठ शुद्र, निम्न शुद्र, और अछूत बन गए। प्रभावशाली कृषक जातियाँ विभिन्न क्षेत्रों में स्थापित हो गईं जैसे, जाट, राजपूत, कुंबी, वेलाल, वेलमा, रेड्डी, कापू नायर, तथा कई अन्य। इस दीर्घ प्रक्रिया में, प्राचीन पहचान समाप्त हो गई। प्राचीन समय में होयसला राजाओं के पूर्वज मेलपा थे जो सोसेयुर (वेमलनत) जंगलों में पर्वतीय मुखिया थे। उदैयर और यादव राजवंश पशुपालकों में से आए। तेवार राजा मारवा और फलार शिकारियों में से उदित हुए। गुर्जर और राजपूत पहले खानाबदोश पशुपालक होते थे। स्थानों की भी नई पहचान बन गई थी क्योंकि उन्हें राजवंशों और नियंत्रक स्थानीय समूहों के नाम से जाना जाता था।

शासक/प्रभावशाली जातियों की पहचान राजवंशीय प्रदेशों के साथ हो गई थी क्योंकि ये उनके स्वदेश बन गए थे। सभी धर्म भूमियों में समान रूप से सुखी एक ही जाति के लोग थे और वे ब्राह्मण थे।

कुछ छोटे मगर महत्वपूर्ण शिलालेखों में, ब्राह्मण बस्तियों, उनके द्वारा कर वसूली तथा स्थानीय संसाधनों (जैसे चरागाह) पर उनके अधिकार के विरोध के भी उदाहरण मिलते हैं। हिन्दू राजघरानों की शक्ति धीरे-धीरे प्रायः हिंसात्मक रूप से व्यापक क्षेत्रों तक पहुंच गई थी जो प्रारंभिक मध्यकाल में उनकी पहुँच से दूर थे। कई मामलों में भूमि अनुदान, जो शाही अधिकार के सीमांत का संकेत था, का विरोध किए जाने की संभावना बनी रहती थी। जिन स्थानीय समाजों में ब्राह्मणों की सामाजिक प्रतिष्ठा की मान्यता थी वहां भी भू-अनुदान को लेकर संघर्ष की संभावना रहती थी। नवीं शताब्दी में तमिलनाडु के तटीय क्षेत्रों में नयी ब्राह्मण बस्तियों के बसने के साथ इस तरह के स्थानीय संघर्ष हुए। राष्ट्रकूट क्षेत्र के कुछ शिलालेख यह चेतावनी देते हैं कि ब्राह्मण भूदान के विरोधियों पर हिंसा और कहर बरसेगा। शिलालेख यह भी घोषणा करते हैं कि ब्राह्मणों के हत्यारों को कड़ी सजा मिलेगी। इससे यह स्पष्ट होता है कि इस तरह की हत्याएं जरूर होती होंगी। मध्यकालीन राज्यों में कृषक समुदायों ने खानाबदोश चरवाहों को पीछे खदेड़ कर कृषि का काफी विस्तार कर लिया था लेकिन इसी के साथ चरवाहे, शिकारी, खानाबदोश तथा अन्य लोग भी बढ़ते कृषक समाजों में प्रवेश करते गए। और ये लोग श्रमिक, किसान, शिल्पकार, पशुपालक परिवहन चालक, डेरी उत्पादक, सैनिक, व्यवसायी, योद्धा, ओझा तथा राजा बन गए। कृषि क्षेत्रों में और विभिन्न प्रकार की भी आबादी शामिल हो गई जिसमें न केवल विभिन्न प्रकार के किसान अपितु खेतिहर, जमींदार, भूमिविहीन श्रमिक जो कृषि समुदाय से तो नहीं थे लेकिन अनिवार्यतः खेती के लिए श्रम करते थे, कलाकार, पशुओं को चराने वाले, शिकारी, माल ढोने वाले, जंगली उत्पादों को एकत्रित करने वाले, कुंआ खोदने वाले, पुजारी, इंजीनियर, वास्तुकार, चिकित्सक, ज्योतिषी और योद्धा भी शामिल थे। इनके बिना अर्थव्यवस्था का विस्तार नहीं हो सकता था और उनका शामिल होना एक महत्वपूर्ण सामाजिक योजना थी।

इस संदर्भ में योद्धाओं ने अपना प्रभाव बढ़ा लिया था। कई कारणों से योद्धाओं की ताकत को बढ़ावा मिला और निश्चित रूप से एक कारण था कि कृषक समाज में रहने वाले लोगों में विशिष्ट सैन्य योग्यता वाले लोगों की संख्या बढ़ रही थी। प्रायः खानाबदोशी आधार वाले योद्धा सैन्य विशेषज्ञ बन गए। विशेषतः राजस्थान और आसपास के क्षेत्रों में उनकी संख्या काफी थी जहाँ गूर्जर प्रतिहारा गोत्रों से योद्धा राजवंशों का उद्भव हुआ जिन्होंने आठवीं शताब्दी के बाद अधिकांश गंगा क्षेत्र में विजय प्राप्त की।

14.2 सुदृढीकरण का ढांचा

इस प्रकार हम पाते हैं कि प्रारंभिक मध्यकाल में संपूर्ण महाद्वीप में अनेक राजनीतिक और सामाजिक संबंधों का तंत्र विकसित हुआ। लेकिन यहां पर एक समस्या आती है। यदि हम जातियों के प्रसार को सामंतवाद के संदर्भ में देखते हैं तो हमें शहरीकरण के तीसरे दौर को नकारना होगा। अथवा हमें प्रारंभिक मध्यकाल को उन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के तार्किक विकास के रूप में देखना होगा, जिनकी

शुरुआत पहले के ऐतिहासिक दौर में हो चुकी थी। भारतीय इतिहास के विभिन्न कालों को निर्धारित करने वाली चर्चा में सामंतवाद सबसे अधिक विवादास्पद सिद्धांत रहा है। विकेन्द्रीकरण और पदानुक्रम सामंती राज्य के ढांचे की मुख्य विशेषताएं हैं। यह बात कई अर्थ-स्वायत्त शासकों जैसे सामंत, महासामंत तथा महामंडलेश्वर इत्यादि की उपस्थिति से भी पुष्ट होती है।

भूस्वामी मध्यस्थों का उदय भारतीय सामंती संरचना का मुख्य लक्षण माना जाता है। निश्चित रूप से यह राज्य सत्ता के विघटन और विकेन्द्रीकरण तथा कृषि ढांचे और उत्पादन संबंधों में महत्वपूर्ण परिवर्तन से जुड़ा हुआ है। भूस्वामियों/मध्यस्थों का उदय भूमि अनुदान अर्थव्यवस्था से कारण-कारक के रूप में जुड़ा हुआ है। तीसरा मसला अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति में होने वाले परिवर्तनों से संबंधित है जिसके अंतर्गत शहरी मुद्रा-आधारित अर्थव्यवस्था ग्रामीणकरण में तब्दील होने लगती है और गांव आत्म निर्भर होने लगते हैं। इससे शहरी पतन की शुरुआत होती है और यह भी सामंती प्रक्रिया का ही एक लक्षण है।

कृषि व्यवस्था में इसका परिणाम कुछ कुछ कृषि दासता के करीब निकला जिसकी विशेषताएँ थी स्थिरता, बलात श्रम और राजस्व शुल्क की अत्यधिक दरें। उस सामन्ती स्वरूप में इन तीनों तथ्यों की गणना की जाती है जो राज्य संरचना तथा प्रारम्भिक मध्यकालीन भारत में राज्य की प्रकृति की व्याख्या करता है।

सुदृढीकरण के बारे में प्रस्तुत दूसरी संरचना का सम्बन्ध बर्टन स्टेन द्वारा प्रतिपादित तथाकथित विभाजित राज्य व्यवस्था से है। स्टेन ने सत्तर के दशक में "दक्षिण भारतीय इतिहास में विखण्डित राज्य (Segmentary State) की अपनी औपचारिक संकल्पना प्रस्तुत की। स्टेन ने अपने शब्दों में अपनी स्थिति को स्पष्ट किया है। "एक विखण्डित राज्य प्रभुसत्ता में दोहरी स्थिति रखता है। यह वास्तविक राजनीतिक प्रभुसत्ता अथवा नियंत्रण, तथा साउथहाल की शब्दावली में "अनुष्ठानिक आधिपत्य" (Ritual Hegemony) या "अनुष्ठानिक प्रभुसत्ता" (Ritual Sovereignty) होती है। यह भारतीय परम्पराओं या प्रथाओं में क्षेत्र तथा राजधर्म में प्रचलित थी। विखण्डित राज्य में अनेक केन्द्र होते थे जिनमें एक प्रमुख स्रोत होता था जिसे अनुष्ठानिक प्रभुसत्ता के रूप में जाना जाता था परंतु इन सबको एक भाग पर वास्तविक राजनीतिक नियंत्रण के रूप में प्रयोग किया जाता था अथवा राज्य द्वारा राजनीतिक व्यवस्था को काबू में रखने का खण्ड या भाग होता था। इसमें विशिष्ट प्रशासनिक कर्मी होते थे कुछ एकीकृत राज्यों में प्रशासन का कार्य करते थे जिन्हें नौकरशाह कहेंगे, किन्तु ये सब प्राथमिक केन्द्र की एकमात्र विशेषताएँ नहीं होते हैं, परंतु ये सब उस निश्चित खण्ड या राज्य जैसा भी निर्धारित करे उनके नियमों के अंतर्गत ही अपनी सेवाएँ राज्य को उपलब्ध कराते हैं। अधीनस्थ स्तर विखण्डित राज्य के क्षेत्रों के अनुसार उनके कार्यों को विभाजित करते थे और उनके संगठन का स्वरूप पिरामिड की तरह होता है। इनके केन्द्र और विखण्डन की किसी एक परिधि की इकाइयों के बीच संबंध समान होता है। इनके संबंध प्रमुख केन्द्र और सभी परिधियों की शक्तियों के केन्द्र के रूप में होते हैं... भारतीय संदर्भ में इसे सैद्धान्तिक रूप से शब्दों में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं जैसे कि एक राज्य और एक छोटा राजा जिसका वर्णन स्थानीय शासक के रूप में कर सकते हैं जो अपने लघु क्षेत्र में राजा की तरह ही अधिकार सम्पन्न है जैसे कि एक बड़ा राजा हो

किन्तु उसका क्षेत्र सीमित होता है, विराजमान होता है। यही है वह पिरामिड स्वरूप जिन्हें विखण्डित रूप में परिभाषित किया गया है।”

स्टेन ने अपनी विखण्डित (पृथक) राज्य संकल्पना को अठारहवीं शताब्दी के चोल राज्य और विजय नगर में लागू की। स्टेन के विखण्डित राज्य के प्रतिमान का निर्धारण “असीमित शक्तिशाली विनिर्माण का साधन है जो परम्परागत सिद्धान्तों के विपरीत होता है। चोल राज्य पर के. एन. शास्त्री द्वारा किए गए दक्षिण भारतीय इतिहास लेखन के बाद यह दक्षिण भारतीय इतिहास में यह बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान रखते हैं। यद्यपि अभी इस शोध के कुछ अंश बाकी हैं जो स्पष्ट नहीं हो पाए हैं जिनसे दक्षिण भारत में राज्य निर्माण के कुछ पक्षों को विखण्डित राज्य के सिद्धान्त पूरी तरह स्पष्ट नहीं कर पाएँ हैं।

इस मानक या स्वरूप की आलोचना मानवशास्त्रीय स्वरूप की शब्दावली के अंतर्गत की गई है जिसे स्टेन ने अपनाया है, उसे सामन्तवादी सिद्धान्त और राज्य व्यवस्था के एकीकृत सिद्धान्त दोनों के समर्थक नकारते हैं। एकीकृत या समेकित राज्य शासन को राज्य निर्माण के मुद्दे पर एक प्रक्रिया के रूप में देखता है। इसी प्रक्रिया को हम भी एकात्मक, प्रक्रियात्मक और केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। यह बड़ी राज्य व्यवस्था में जातियों के सुदृढीकरण के विषय को निश्चित करने की तीसरी वैकल्पिक संरचना हो सकती है।

संघटन या एकीकरण की प्रक्रिया का अभिप्राय है पूर्व राज्य व्यवस्थाओं का राज्य व्यवस्था में रूपांतरण होना और इस प्रकार स्थानीय राज्य व्यवस्थाओं के संघटन की ऐसी संरचनाएँ बनना जो स्थानीय राज्य व्यवस्थाओं का उत्कर्ष संघटन है। इस संघटन प्रक्रिया में अन्य सूत्रपात, जनजातीय समूहों के कृषकीकरण के माध्यम से कृषक समाज का विस्तार, व्यावसायिक नेटवर्क में सुधार, जातीय समाज का विस्तार और कुल्के द्वारा वर्णित क्षत्रीयकरण या राजपूतीकरण की प्रक्रियाओं के द्वारा शासक वंशावलियों के स्थानिक विस्तार होने की कड़ियाँ भी शामिल हुई। इन पहलुओं ने पूर्व आधुनिक राज्य को दो महत्वपूर्ण तरीकों से प्रभावित किया। राज्य का मुख्य स्थान केन्द्रीय सीमा/राज्य की नौकरशाही के नियंत्रण में आ गया। दूसरे राजनीतिक रूप से नियंत्रित क्षेत्र संघटन प्रक्रिया के आंतरिक प्रदेश में घटित होने के माध्यम से विस्तृत हो गया। इसमें सामंतों, राजाओं और महामण्डलेश्वरों ने मुख्य भूमिका निभाई जिसे बाद में महाराष्ट्र के सिंघनापुर के यादव भोंसले द्वारा भी निभाया गया।

राज्य निर्माण की इस प्रक्रिया में धार्मिक संस्थाओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। निःसंदेह राजवंशों पर धर्म का प्रभाव इतिहासकारों की प्रारम्भिक पीढ़ियों तक सर्व विदित था। लेकिन सामन्तवाद: और विखण्डित राज्य व्यवस्था के मॉडल के बाद ही इसे इतिहासकारों द्वारा उपयुक्त स्थान दिया गया। वास्तव में विखण्डित राज्य संकल्पना राज्य की स्थानीय विखण्डित संरचना और इसकी धार्मिक प्रभुता का तर्क देती है। द्वितीय सहस्राब्दी में शाही संरक्षण ग्रामीण ब्राह्मण गाँवों से शहरी मंदिरों और मंदिर शहरों पर स्थानांतरित हो गया था। यह शासन और धार्मिक प्रभुता का उपयोग करने के लिए गहन वैधता के साथ अन्य चीजों के साथ चलाया गया।

इस संरचना को राज्य की संरचना के लिए एक विकास प्रक्रिया के रूप में देखना सामन्तवादी स्वरूप तथा विखण्डित राज्य दोनों से ही परे हटना है। फिर भी सामन्तवाद या विखण्डित राज्य से परे हटने का तथ्य इनमें निहित नहीं है। यह इस बात में निहित है कि भारतीय इतिहास के कालक्रम को किस प्रकार समझा और लागू किया जा जाता है।

देखने में यह विचित्र लग सकता है परंतु ये तर्क उतने विरोधी नहीं हैं जितना लग सकते हैं। प्रकट किया गया है कि प्रक्रियाओं का विकास सामन्तवादी रूप वाला हो सकता था और यह भी संभव था कि यह दूसरी तरफ जा सकता था। हम यह नहीं कहते कि मध्यकालीन इतिहास में संपूर्ण महाद्वीप में उत्पादन का अखिल भारतीय रूप था। निश्चित रूप से सामाजिक संबंधों का अनिमित लेकिन निर्माणरत तानाबाना ही अस्तित्व में रहा होगा। अधिकतर मध्यकालीन राज्य साम्राज्यवाद, क्षेत्रीयवाद और स्थानीयवादिता के तत्वों का मिश्रण थे। अनेक राज्यों का साम्राज्यों में विस्तार हुआ। सभी राज्य सम्प्रभुता के प्रश्न पर एक दूसरे के साथ प्रतिद्वन्दिता की स्थिति में थे। प्रारंभिक राजवंश मुख्य क्षेत्रों से स्थानीय समर्थन के द्वारा ही संपन्न हुए। राजनीतिक व्यवस्थाओं का संगठन अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग था और समय के साथ इसमें परिवर्तन आए। ऐतिहासिक स्रोत इसके सामान्य दरें पर प्रकाश डालते हैं।

अधिकतर स्रोतों में लोगों के मध्य आदान-प्रदान राजवंशों के रैंक से संबंधित है और इससे यह स्पष्ट होता है कि संप्रभुता का उदय इन आदान-प्रदानों के आधार पर हुआ न कि किन्हीं नैतिक या संवैधानिक नियमों द्वारा/संप्रभुता का अर्थ था जनता द्वारा अपने आचार-विचार द्वारा शासकों के प्रति आदर और सम्मान का प्रदर्शन। जनता की इन गतिविधियों का लेखा- जोखा अभिलेखों में मिलता है। अक्सर आदान-प्रदान किया जाता था उपहारों, करारनामों तथा प्रतिबद्धताओं का इनके द्वारा कुछ व्यक्ति कुछ अन्य व्यक्तियों के प्रति सार्वजनिक रूप से आदर या सम्मान व्यक्त करते थे। ये व्यक्ति ऊंचे तबके के भी हो सकते थे और नीचे तबके के भी। सामाजिक संबंधों के इस पेचीदा आर्थिक तानेबाने को हम भूमि अनुदान-अर्थव्यवस्था के नाम से समझ सकते हैं। जातियों के सुदृढीकरण के मसले को इस भूमि अनुदान- अर्थव्यवस्था के दायरे के भीतर रखकर समझने की आवश्यकता है। यदि हम सामन्तवाद के तर्क से देखेंगे तो यह प्रक्रिया सिकुड़ती हुई नजर आयेगी और तीसरे शहरीकरण के सिद्धांत से समझेंगे तो यह प्रक्रिया फैलाव लेती हुई दिखेगी।

14.3 प्रसार का मुद्दा

कास्ट अथवा जाति वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत पारिवारिक सम्बन्ध और हैसियत की परिभाषित इकाइयाँ और प्रतीक हैं परंतु पैतृक व्यवस्था जाति सीमाओं में बाहर निकल जाती है और धर्म के नियंत्रण से भी बाहर रही है। योद्धा राजाओं ने पृथक-पृथक और दूरस्थ प्रदेशों को संगठित किया और धर्म के नियम इन विस्तृत प्रदेशों के केवल कुछ हिस्सों को संगठित कर सके। छठी शताब्दी में अधिकांश जनसंख्या जातीय समाज की व्यवस्था के बाहर संगठित समूहों में थी हालांकि बाद के काल में धर्म ने अपनी पहुंच बढ़ाई लेकिन फिर भी काफी संख्या में लोग जातीय व्यवस्था

के सबसे निचले स्तर से भी नीच या इसके बाहर थे। यद्यपि ये मंदिरों और अन्य सम्माननीय समुदायों के धार्मिक अनुष्ठानों से निष्कासित थे, निम्न जाति के लेकिन ये लोग और जाति रहित लोग कृषि क्षेत्रों में रहते थे। चूंकि जातीय समाज की शक्ति उच्च रैंकों से निम्न की तरफ और धार्मिक व विजय के केन्द्रों से बाहर की तरफ विस्तारित होती थी अतः निम्नतम रैंकों के समूह और प्रभावशाली जातीय नियंत्रण की परिधि के समूहों ने जातीय समाज और इसके बाहर की परिधि और उसके आसपास के बीच एक सीमा रेखा निर्धारित करली थी। उच्च जातीय नियंत्रित बस्तियों और उसके पास रहने वाले अनेक बाहरी लोग प्रत्येक कृषक बस्ती के स्थायित्व के लिए अति महत्वपूर्ण थे और विभिन्न तरीकों से धार्मिक अनुष्ठानों में प्रवेश कर गए थे। परंतु बहुत से अभी भी बाहर ही थे। ऐसे व्यक्ति प्रवास की नई लहर और विजित उपनिवेशों से पहली और दूसरी सहस्राब्दियों में प्रत्येक कृषक समाज में आते रहे। प्रतीकों और पैतृक सम्बन्धों की परम्पराओं ने असंख्य लोगों को ऐसे क्षेत्रों में सम्मिलित किया जो बाजार-विनिमय और राजनीतिक पदानुक्रम व्यवस्था के द्वारा निर्मित थे।

जनजातीय समूहों में वंशावली और गोत्र नेता, दूरस्थ स्थानों से व्यावसायिक कुलपति (प्रमुख) घुमंतू कलाकारों के प्रमुख, खानाबदोशों के मुखिया, किसी भी पृष्ठभूमि से संबंधित तथा सैनिक कमांडर स्थानीय प्रभावशाली जातीय कुलपतियों के साथ सम्बन्ध बना सकते थे जो उनके जातीय धार्मिक रैंक (पदों) के आधार पर नहीं अपितु उनकी संबंधित वंशीय अधिकारों/शक्तियों की पारस्परिक मान्यता के आधार पर होते थे। परिवारों के मुखिया और राज्यों के मुखिया कुलपतियों के रूप में समझौता कर सकते थे क्योंकि उनके संबंधियों के श्रमिकों और स्वामीभक्ति, सम्पत्ति और निष्ठा को नियंत्रित करने के लिए परस्पर निर्भर करते थे।

मध्यकाल की एक विशेष परिघटना है विद्यमान वर्ण/जाति समूहों का विघटन और अनेक जातियों में उनका विभाजन। ब्राह्मणों में भी यह प्रनिया सक्रिय थी जिसके अनुसार कई ब्राह्मण जातियों का नाम उनके द्वारा किये जाने वाले अनुष्ठान के नाम पर रख दिया गया। इस प्रकार भूमि अनुदान अर्थव्यवस्था की वृद्धि ने जातियों के बड़े विघटन के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। भूमि के घोषणा-पत्र में ब्राह्मणों की पहचान उनके गोत्रों, पुरुष पूर्वज के नाम, ज्ञान की शाखा और अंत में मूल गृह निवास से की गई। यदि हम मैथिली ब्राह्मणों को देखें तो इस प्रक्रिया में उनके मध्य उपजातियों की संख्या 1000 तक पहुंच गई। इसी प्रकार हम उसी क्रम में अन्य ब्राह्मण उप जाति के उदाहरण भी देख सकते हैं।

राजपूत अस्मिता के उदय से हमें जाति-प्रसार के नये रूपों के बारे में पता चलता है। ब्राह्मण वंश-लिपिकों की मदद के द्वारा भील, चन्देल, पाल तथा अन्य स्थानीय समुदायों/जनजातियों ने सम्मानजनक क्षत्रिय वंशावली में प्रवेश प्राप्त कर लिया। इससे बैक्ट्रियाई, यूनानी, शब्द और पार्थियन के भी इसी प्रक्रिया में घुल-मिल जाने का मार्ग प्रशस्त हुआ। यह निश्चित रूप से खुली और जारी प्रक्रिया थी क्योंकि बाद में हूण और गुर्जर तथा चालुक्य, परमार, चहमान तथा तोमर में इसमें शामिल हो गये।

प्रसार की यह प्रक्रिया केवल उच्च जाति वर्गों तक ही सीमित नहीं थी। अन्य जातीय समूहों में भी व्यापक रूप से यह प्रसार चल रहा था। पाँचवीं शताब्दी के

एक स्रोत के अनुसार एक सौ से अधिक जातीय समूह थे। आठवीं शताब्दी में स्रोतों से पता लगता है कि विभिन्न कारणों से कई हजार मिश्रित जातियाँ अस्तित्व में आईं। ये कारण विजय, व्यवसाय का प्रसार, कृषि का विस्तार तथा अन्य संबंधित कार्य आदि थे। मध्य भारत के मध्यकालीन अभिलेखों से हमें शब्द, भील तथा पुलिन्द के सम्मिश्रण के उदाहरण मिलते हैं। यह सम्मिश्रण हमेशा शांत हो यह आवश्यक नहीं था। नौवीं से तेरहवीं शताब्दी तक संपूर्ण दक्षिण में अभीरों और अन्य जातीय समूहों के बीच संघर्ष होने के उल्लेख मिलते हैं। ये संघर्ष राजनीतिक शक्तियों तथा साथ ही नए ढाँचे में उच्चतर प्रतिष्ठा पाने के लिए होते थे। इस प्रकार सभी अभीर उच्च जाति समूहों में समाहित नहीं हो सके। अमीरों के अंदर ही निम्न उप-जाति समूह और मध्यम जाति समूह भी थे। इस प्रकार समूहों में संघर्ष की स्थिति जितनी जातीय समूहों से बाहर थी उतनी ही समूहों के अंदर भी थी। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जब स्थानीय जनजातीय समूहों ने समझौतों की मदद से अपनी स्थिति को बदलने में सफलता प्राप्त की। समझौते की यह प्रक्रिया कभी-कभी हिंसक तथा अन्य अवसरों पर व्यवसाय और नेटवर्क के आदान-प्रदान के माध्यम से सम्पन्न होती थी। यहाँ तक कि मिश्रण की प्रक्रिया में भी जाति धर्म को नहीं छुआ गया और उसका पूरी तरह सम्मान किया गया।

जातियों के प्रसार में तीव्रता लाने वाली एक अन्य महत्वपूर्ण प्रक्रिया भी है। इस प्रक्रिया में शिल्पकार जातीय समूहों में परिवर्तित हो गए थे। शिल्प संघों और व्यावसायिक समूहों तथा श्रेणियों ने स्वतः जातीय स्थिति प्राप्त कर ली और घनिष्ठ समूह बन गए। शिल्प संघ के प्रमुख का प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में प्रायः जेटक (ज्येष्ठ) या पमुक्ख (प्रमुख) के रूप में उल्लेख किया गया है। उसका यह उल्लेख प्रायः उस शिल्प संघ द्वारा कार्य पालन करने के बाद किया जाता है जिसका वह प्रमुख होता है जैसे माला निर्माताओं के प्रमुख (मालाकार जेटुक) बड़ई संघ के प्रमुख (बड्ढुकि जेटुक) आदि। स्पष्टतः संघ प्रमुख अपने संघ के सदस्यों पर अपने पर्याप्त अधिकारों का उपयोग करता था। सेट्टिट्ट व्यवसायी व बैंकर होता था और प्रायः व्यवसायी संघ का अध्यक्ष होता था। संघ प्रमुख दोषी सदस्य को दंडित करता था यहाँ तक कि उसे बहिष्कृत तक कर सकता था। यह प्रकट होता है कि सामान्यतया संघ की प्रमुखता प्रमुख के बड़े बेटे को प्राप्त हो जाती थी। उत्तराधिकार प्रमुख की मृत्यु के बाद लागू होता था उसके जीवित रहते हुए नहीं हो सकता था। इसका अर्थ है कि प्रमुखता जीवन पर्यन्त रहती थी। पाँचवीं ईसवी के दो दामोदरपुर कॉपर प्लेट के अभिलेख दर्शाते हैं कि एक भूपाल ने नगर श्रेष्ठ के पद को लगभग आधी शताब्दी अपने पास रखा।

हम जातीय समूहों में मिश्रित जातियों के रूप में स्थानीय शिल्पों के उद्भवों को देख सकते हैं जैसे नामित, तंबूलिका, चित्रकार, स्वर्णकार, मालाकर तथा कई अन्य। स्पष्ट रूप से ये अलग-अलग शिल्प थे और इनसे जुड़े हुए लोगों का उदय नई जातियों तथा मिश्रित जातियों के सदस्यों के रूप में हुआ। हमें शिल्प गाँवों के संदर्भ भी मिलते हैं जैसे कुंभरवद्रका जो मिट्टी के बर्तन बनाने वालों (कुंभकारों) से संबंधित था।

शिल्प के साथ धर्म ने भी जातियों के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। विभिन्न संप्रदायों का सम्बन्ध गहन रूप से उन विभिन्न जातियों के साथ था जिनका अपने

पूज्य भगवान के नाम से उद्भव हुआ था। यह प्रक्रिया राज्य निर्माण की प्रक्रिया से भी अच्छी तरह जुड़ी हुई थी।

प्रत्येक ब्राह्मणवादी संप्रदाय का एक मुखिया होता था और वह अपने प्रति निष्ठा की अपेक्षा रखता था। लिंगायत और वीरशैव इस घटना के बहुत अच्छे उदाहरण हैं। वास्तव में यह बड़ा विचित्र है कि जो जाति व्यवस्था को समाप्त करना चाहते थे वे अन्ततः इसी में घुल-मिल गये।

इस प्रकार जातीय समूह संपूर्ण उपमहाद्वीप में या तो सामंती रूप में अथवा एकात्मक राजतंत्र के रूप में उत्पन्न हो रहे थे। यह एकात्मकता केवल उच्च जातीय समूहों तक ही सीमित नहीं थी अपितु समग्र सामाजिक परिदृश्य में इसे देखा जा सकता था। आइए, अब हम इस प्रक्रिया से मुख्य बिंदुओं पर एक दृष्टि डालें।

14.4 सारांश

वर्ण और जाति का सुदृढीकरण और प्रसार की प्रक्रिया प्रारंभिक ऐतिहासिक काल में आरंभ हुई क्योंकि मौर्य राजवंश के अंतर्गत उप-महाद्वीप में शहरीकरण का विस्तार हो गया था। यह प्रक्रिया प्रारंभिक मध्यकाल के संदर्भ में दृढ़ हो गई थी। इसमें कृषक तथा गैर-कृषक समूह जैसे पशुपालक, शिकारी-संग्रहकर्ता तथा वनवासी समूह भी शामिल थे।

यह प्रक्रिया केवल उच्च जातीय समूहों तक ही सीमित नहीं थी, जैसा कि उपर्युक्त वर्णन से देखा गया है, परंतु धन और शक्ति प्राप्त करने और उसे वैध करने के लिए उच्च जाति की प्रतिष्ठा प्राप्त करने के उद्देश्य से उसमें गति आई। जाति समूह में उच्च रैंक या पद प्राप्त करने का परिणाम धन और अधिकार प्राप्त करना था। यह प्रक्रिया निश्चित रूप से पदानुक्रम प्रकृति की थी और उच्च जातीय समूहों की शक्तियों एवं धन को वैध करने के लिए थी। इस प्रकार इन सामाजिक परिवर्तनों को सामंतवाद या एकात्मक राजतंत्र के ढांचे के द्वारा समझा जा सकता है और दोनों ही परिस्थितियों में यह प्रक्रिया अनिवार्यतः स्थानीय और क्षेत्रीय वृद्धि से जुड़ी हुई थी।

14.5 शब्दावली

जाति का पदानुक्रम (Hierarchy of Caste) : यहाँ जाति के पदानुक्रम का अर्थ लुई डुमोंट द्वारा वर्णित उस शुद्धता और प्रदूषण के अर्थ में है जिससे जाति व्यवस्था बनी होती है। इस अर्थ में जातियों का क्रम आरोपित शुद्धता या मिश्रण के परिप्रेक्ष्य के अनुसार होता है।

संस्कृतिकरण (Sanskritisation) : इस शब्द की रचना प्रसिद्ध समाजशास्त्री एम एन श्रीनिवास द्वारा की गई है। इस शब्द का अर्थ है कि निम्न क्रम और रैंक वाली जातियाँ उच्चतर रैंक के लिए प्रेरित होती हैं और प्रायः के जातियाँ पदानुक्रम में ऊपर की ओर अग्रसर होती हैं।

14.6 अभ्यास

- 1) उस संदर्भ का विश्लेषण करें जिसमें हम जातियों और वर्णों के सुदृढीकरण पर बहस कर सके।
- 2) क्या जातियों और वर्णों का प्रसार केवल उच्च जातियों तक ही सीमित था?
- 3) क्या यह प्रसार सर्वव्यापी था या उप महाद्वीप के किसी एक क्षेत्र तक ही सीमित था?



ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY